

यौन शुचिता के प्रश्न से मुक्ति का द्वंद्व – 'अर्धनारीष्वर'

डॉ. हरीष अरोड़ा,

हिन्दी विभाग,
पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य),
दिल्ली विश्वविद्यालय,
नेहरू नगर, नई दिल्ली-110065

विष्णु प्रभाकर अपने युग के उन साहित्यकारों में से हैं, जिन्होंने अपने लेखन के माध्यम से महिलाओं और उनकी देह से जुड़े ऐसे विषयों को उठाया है जो अब तक प्रेमचंद युगीन कथाकारों की कलम से अछूते रहे। हालाँकि साहित्य के क्षेत्र में जब विष्णु प्रभाकर का पदार्पण हुआ, उस समय तक बड़े-बड़े साहित्यकार जैसे जैनेंद्र, अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी जैसे साहित्यकार मनोविज्ञान और यौन सम्बन्धों से जुड़े मुद्दों को लेकर अपने-अपने क्षेत्र में स्थापित हो चुके थे किंतु विष्णु प्रभाकर ने जिन विषयों को उठाया, वे पूर्णतः मौलिक एवं इस पुरुष सत्तात्मक समाज में महिला की स्थिति को प्रश्नांकित करते हैं। विष्णु प्रभाकर इस पुरुषवादी व्यवस्था में अपने पात्रों के माध्यम से यह सवाल करते हैं कि क्या सामाजिक व्यवस्था में पुरुष का तानाशाही और दमनकारी वर्चस्व एक स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था के लिए सही है?

प्रेमचंद युग की बात करें तो उसमें महिला पात्र दूसरे प्रकार की समस्याओं से जूझती हैं। उस समय की स्थितियाँ ही अलग हैं। बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, दहेज प्रथा, विधवा की दयनीय स्थिति उस समय के प्रमुख विषय हैं। ये समस्याएँ मूलतः सामाजिक समस्याएँ हैं जिन्हें उस युग के साहित्यकारों ने विशेषकर प्रेमचंद ने पूरे यथार्थ के साथ उभारा है। किंतु विष्णु प्रभाकर उन सभी साहित्यकारों से आगे बढ़कर उन विषयों को उठाते हैं जिन्हें उनसे पहले उतनी गहराई के साथ किसी ने भी नहीं उठाया। बलात्कार और

स्त्री देह का वस्तुकरण स्त्री को कैसे मानसिक रूप से आजीवन विकलांग कर देता है और उस पर भी पुरुषवादी सांचों में ढला समाज इस यौनिक अपराध के लिए उसे ही दोषी ठहराता है, इसका सटीक चित्रण विष्णु प्रभाकर ने किया है।

देखा जाए तो भारतीय संदर्भ में स्त्री विषयक चर्चा दो विपरीत धाराओं पर केन्द्रित रही है। एक तो वह भारतीय नारी की परम्परागत छवि को प्रत्येक स्त्री में देखना चाहती है तो दूसरी ओर वह ऐसी नारी पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करना चाहती है तो समाज में विरोध और विद्रोह की छवि से युक्त हो। हिन्दी साहित्य के आरम्भिक चरणों में स्त्री का आदर्श और परम्परागत दैवी रूप होना एक सामान्य बात थी लेकिन आधुनिक साहित्य में स्त्री की परम्परागत छवि से संघर्ष और उसके उस रूप के स्खलित होने का चित्रण अधिक मिलता है।

विष्णु प्रभाकर का 'अर्धनारीष्वर' उस दौर का उपन्यास है जिस समय यह समय और समाज तकनीकी क्रांति के कारण मीडिया के जादू से पूरी तरह मोहित था। तकनीक ने आर्थिक स्वावलम्बन की राह आसान कर दी थी। सन् 1990 के आस पास के समय में उपभोक्तावाद और वैष्ठीकरण के आधार-स्तम्भों पर टिकी उत्तरआधुनिकता ने भारतीय समाज के मूल्यवादी परम्परा की समाप्ति की घोषणा कर दी। मूल्यहीनता के उस दौर में साहित्य में देह सम्बन्धों और यौन चेतना की अभिव्यक्ति के

कारण साहित्य पर तमाम तरह के आरोप भी लगाए जाते रहे। लेकिन ऐसे समय में भी देहवादी रचनाओं के बावजूद भी अनेक ऐसे साहित्यकार भी थे जिनकी रचनाओं के केन्द्र में स्त्री-देह भले ही थी लेकिन वह स्त्री अपनी अस्मिता को अपनी देह में ही ढूँढने का प्रयास कर रही थी।

ऐसे ही एक उपन्यासकार थे – विष्णु प्रभाकर। अपने उपन्यास 'अर्धनारीष्वर' (सन् 1992) के माध्यम से विष्णु प्रभाकर पुरुषवादी सांचों को चुनौती देते हुए उन सभी मानको को ध्वस्त करते हैं जो औरतों पर होने वाली यौनिक हिंसाओं के लिए स्वयं औरतों को ही जिम्मेदार ठहराते हैं। दरअसल गाँधीवादी रचनाकार विष्णु प्रभाकर मध्यवर्गीय नैतिकता के पक्षधर रहे। वे परम्परागत समाज और उसकी मान्यताओं से जहाँ संघर्ष करते दिखाई देते हैं वही वे सामाजिक परिवेष में स्त्री को नैतिकता और मर्यादा के दायरे में देखने के भी आदि रहे।

बलात्कार, देह को वस्तु के समान इस्तेमाल किए जाने का दंश 'अर्धनारीष्वर' उपन्यास की महिला पात्रों को सालता है। वे छटपटाती हैं। वे लड़ती हैं, अपने अपराधी को सजा दिलवाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा देती हैं और न्याय न मिलने पर स्थितियों से समझौता करके बैठ जाती है तो इसी प्रकार कई बार वे अपने अपराधी को सजा दिलाने में कामयाब भी होती हैं। समाज के हर वर्ग की स्त्रियाँ यहाँ मौजूद हैं उसी प्रकार हर श्रेणी और हर प्रकार का मर्द भी यहाँ मौजूद है।

प्रश्न है कि बलात्कार और यौन हिंसा की जिम्मेदार जब औरत नहीं तो समाज उसे इसके लिए जिम्मेदार क्यों ठहराता है? एक प्रश्न और भी है, और वह यह कि यौन शुचिता क्या नारीत्व से बढ़कर है और क्या एक बलात्कारी स्त्री के नारीत्व को भंग कर सकता है? यानी उसका नारीत्व इतनी क्षुद्र वस्तु है कि खुद एक बेगैरत

इंसान में उसे तार-तार कर देने की शक्ति है। इन्हीं प्रश्नों से विष्णु प्रभाकर जी की स्त्रियाँ दो-चार होती हैं और समाज को भी ऐसी स्थितियों पर निरपेक्ष भाव से सोचने के लिए विवश करती हैं।

विष्णु प्रभाकर का यह उपन्यास हिंदी उपन्यास के परंपरागत ढाँचे से भी भिन्न है। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि लेखक ने इस उपन्यास की रचना तीन स्तरों पर की है और ये तीन स्तर हैं – व्यक्ति-मन, समाज-मन और अंतर्मन। इस प्रकार के वर्गीकरण के संबंध में लेखक का स्वयं अपना मत है कि— 'जब मनुष्य अपनी कहानी अपने शब्दों में कहता है तो उसका मैं प्रबल रहता है। बहुत सी बातें ऐसी भी होती हैं, जिन्हें वह दूसरों के साथ बांट नहीं सकता। बलात्कार उनमें सबसे बड़ी समस्या है। सदियों के सामाजिक बंधन और रूढ़ियों ने नारी को इतना दुर्बल कर दिया है कि वह अपराधिनी न होकर भी स्वयं को अपराधिनी मान लेती है। व्यक्ति मन में उसी स्थिति का वर्णन है। लेकिन मैं इस बात को स्वीकार नहीं करना चाहता इसलिए समाज मन में समाज के विरुद्ध विद्रोह की शक्ति पैदा करना चाहता हूँ और मैंने यही किया है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का एक और अंतर-मन भी होता है। अक्सर वह स्वयं भी अपने को समझ नहीं पाता या समझकर भी अनजान बने रहना चाहता है। मैंने व्यक्ति को उसकी वास्तविकता को पहचानने के लिए इस खंड में आत्ममंथन कराया है। इन सब स्थितियों से गुजरकर ही न केवल नारी बल्कि व्यक्ति मात्र अपने को समझ सकता है और वर्जनाओं एवं कुंठाओं से मुक्त हो सकता है। यही प्रयत्न मैंने अपने पात्रों के माध्यम से किया है।'

विष्णु प्रभाकर ने इस उपन्यास में जिस प्रकार से महिलाओं की आत्मा पर प्रहार करने वाली यथार्थ स्थितियों को अपना विषय बनाया है ठीक उसी प्रकार पात्र भी यथार्थ जीवन से ही

चुने हैं। यहां कल्पना नहीं है। नेत्र-विस्फारित कर देने वाला कटु-यथार्थ है। हालांकि यह उपन्यास किन्हीं अर्थों में प्रभाकर जी के पिछले उपन्यास 'कोई तो' से कथ्य और मर्म की दृष्टि से भिन्न नहीं है बल्कि किन्हीं अर्थों में यह उसका विस्तार ही प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए विष्णु जी के पिछले उपन्यास 'कोई तो' की कुंतल 'अर्धनारीश्वर' की नायिका सुमिता के रूप में उपस्थित है जो ठीक उसी प्रकार अपनी कुंआरी ननद के कौमार्य को खंडित होने से बचाने के लिए कुंतल के समान ही गुंडों से बलात्कार की त्रासदी को स्वयं झेलती है। हालांकि यह भी सत्य है कि बलात्कार के इस दंश से वह स्वयं को मुक्त नहीं कर पाती। आजीवन इसे किसी न किसी त्रासदी के रूप में झेलती रहती है। यौन-शुचिता के भंग होने का प्रश्न उसे अंदर ही अंदर सालता है।

एक त्रासदी यह भी है कि सुमिता का पति जो उसे बेहद प्रेम करता है वह भी कहीं-न-कहीं उसी पुरुषवादी मानसिकता से ग्रस्त है जिसके अनुसार बलात्कार का दंश झेलने वाली महिला ही बलात्कार और यौन हिंसा के लिए ज़िम्मेदार होती है। यही कारण है कि उसके मन में कहीं-न-कहीं यह बात उठ ही जाती है कि उसकी पत्नी ने उसकी बहन को गुंडों से बचाकर कोई महान कार्य नहीं किया है बल्कि उसने यह कार्य केवल इसलिए किया है क्योंकि उसे उससे दैहिक स्तर पर तृप्ति नहीं मिल पाती। वस्तुतः बलात्कारियों के प्रति समर्पण करके उसने भोग की जो परम तृप्ति की उसे वह शहादत के परदे में छिपाना चाहती है। यानी दोनों ओर से कशमकश है, द्वंद्व है, संघर्ष है और है ज़बर्दस्त अशांति।

इस उपन्यास की एक अन्य पात्र है – बलात्कार की भुक्त भोगी प्रौढ़ा पम्पि। देखा जाए तो पम्पि यहां केवल महिला नहीं है बल्कि एक वर्ग है। यह पूरे उस वर्ग की प्रतीक है जो हिंसा

भी झेलती है और अपमान भी। जो बिना किसी गुनाह के शर्मसार होती है क्योंकि उसका चिंदी-चिंदी हुआ तथाकथित स्त्रीत्व उसे उसके स्त्री होने के लिए दोषी ठहराता है। अब प्रौढ़ा हो चुकी पम्पि ने उस वक्त बलात्कार का दंश झेला था जब वह नव-विवाहिता थी। उसके पुराने नौकर ने चाकू की नोंक पर उसके साथ बलात्कार किया था। हालांकि उसके पति ने कभी उसे इसके लिए दोषी नहीं ठहराया पर वह बलात्कार का त्रासदी से मुक्त नहीं हो पाई क्योंकि बलात्कारी को कोई सज़ा नहीं हो पाई। पुलिस ने रिश्वत खाकर नौकर को तो बरी कर ही दिया बल्कि साथ ही पम्पि के पति को भी समझा दिया कि कोई प्रत्यक्षदर्शी गवाह नहीं है। वह दोषी है यह प्रमाणित करने के लिए आपकी पत्नी को जिस यातना से गुज़रना पड़ेगा, उसको सह पाएगी वह?

इसी प्रकार निम्नवर्ग की राजकली जब केवल 15 वर्ष की थी तब उसे न्याय व्यवस्था के तथाकथित संरक्षक दारोगा की हवस का शिकार बनना पड़ा जो उसे रात के दो बजे घसीटकर ले गया था। राजकली की आत्मा पर तो इसका दंश ऐसा है कि वह कह उठती है कि – औरत होना कितना बड़ा गुनाह है। जन्म पीछे होता है शाप पहले से मिलने लगते हैं। मैं नहीं जानती मेरी शादी होगी या नहीं पर अगर होगी तो मैं यह नहीं चाहूँगी कि मेरी बेटा कभी न हो।

शालिनी सात साल की उम्र में 70 साल के बुद्धे की वासना का शिकार बनती है। वह सुमिता को बताती है कि- जब भी किसी वृद्ध को देखती हूँ तो मेरा रोम-रोम घृणा से भर उठता है। भय से चीखने को जी करता है। बचपन में सचमुच चीख उठती थी। अब भी बड़ा परिश्रम करना पड़ता है चीख को अंदर ही घुमड़ते रहने देने के लिए....।

यह उपन्यास ऐसी स्त्रियों के जीवन की विडम्बनाओं का यथार्थ जीवन चित्रण करता है

जिनके जीवन की एक घटना ही उनकी पूरी जीवन को बदल देती है। प्रेम, विश्वास, त्याग जैसे शब्द उन्हें बेमानी से लगते हैं। जीवन उन्हें एक ऐसे मोड़ पर ले आता है कि आगे के लिए कौन सा रास्ता चुनें, यह फैसला लेना मुश्किल हो जाता है। लेखक ने अपने इस उपन्यास में अपनी जिंदगी के आस-पास घटी कई सत्य घटनाओं को भी पिरोया है। वह खुद प्रभात कुमार के रूप में इस कहानी में है।

‘अर्धनारीष्वर’ उपन्यास जहाँ एक ओर नारी की शक्ति को दिखाता है तो वहीं दूसरी वह इस सच्चाई ये रूबरू भी कराता है कि आज भी नारी को अपने अस्तित्व के लिए जंग लड़नी पड़ती है। विरोध और विद्रोह के स्वर में स्त्री

आज भी समाज और समाज के मठाधीषों से चीख-चीख कर कहती है कि कोई तो हो अर्धनारीष्वर, जो उसे अपना आधा हिस्सा, आधा रूप माने। देखा जाए तो यह उपन्यास चिन्तन और बौद्धिक निष्कर्षों पर टिका एक ऐसा उपन्यास है जो स्त्री के यौन शुचिता के प्रश्न को उठाते हुए आधुनिक समाज की तथाकथित आधुनिकता के खोखलेपन पर प्रहार करता है और यह दिखाता है कि इस सबके बावजूद नारी अबला नहीं है। नारी शक्ति है, वह अपमान और प्रताड़ना के बावजूद अपने रास्ते खुद तय कर सकती है।